



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707
ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

पत्रांक:मेमो/अ0बौ0के0/02/2020

दिनांक 16.04.2020

वैश्विक महामारी "कोरोना" आज हमारे समक्ष एक विकट नकारात्मक तथ्य के रूप में उपस्थित है। लेकिन यह एक तरह से हम सभी को अपने अस्तित्व को समझने का एक अवसर भी प्रदान कर सकती है। भले ही हम लॉकडाउन में अपने भौतिक घरों में रहने को विवश हैं लेकिन यदि हम चाहें तो उपस्थित अवसर का उपयोग करते हुए वस्तुतः "घर वापसी" कर सकते हैं।

यह सही है कि *हमारा शरीर जड़ है लेकिन हम एक आत्मचेतन सत्ता भी हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक या अन्य कोई क्रियाएँ मात्र शरीर या मन तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि उनका कोई न कोई केन्द्र या अधिष्ठान अवश्य होता है जहाँ से हमें शारीरिक, मानसिक या अन्य क्रियाओं हेतु शक्ति एवं निर्देश प्राप्त होते हैं जिससे हमारी क्रियाएँ अन्य चेतन सत्ताओं की क्रियाओं के समान होते हुए भी गुणात्मक रूप में भिन्न हो जाती हैं।*

हम न केवल क्रिया में संलग्न रहते हैं बल्कि उसके साक्षी भी हो सकते हैं जिससे हमारी क्रियाएँ शरीर एवं मन की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए उस आयाम को भी स्पर्श कर सकती है जिसे 'श्रेयस' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और हम उस सूत्र को जान पाते हैं जो हमें सम्पूर्ण चराचर जगत से संयुक्त कर देता है, हमें, अन्यो से अपनी अभिन्नता का बोध एवं परिचय प्राप्त होता है और तभी हमें अपने स्वरूप का यथार्थ बोध होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य को आत्म साक्षात्कार नहीं हो जाता है तब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। सत्, चित्त, आनन्द स्वरूप को अनुभूत करने पर ही मनुष्य स्वयं से परिचित होता है, मनुष्य के सभी कर्म सुख प्राप्त के हेतु होते हैं और सुख दो प्रकार के होते हैं; अनन्त सुख या आनन्द तथा सीमित या ऐंद्रिक सुख। मनुष्य जब लौकिक पदार्थों का उपभोग करता है तो उसे सीमित या ऐंद्रिक सुख प्राप्त होता है जिसे 'प्रेयस' की कोटि में रखा जाता है। यह सुख वस्तुतः अनन्तसुख या आनन्द का अपूर्ण रूप या प्रतिबिम्ब मात्र होता है। मनुष्य इसी आनन्द सुख की प्राप्ति हेतु भ्रमवश, अज्ञानता के कारण ऐंद्रिक सुख के पीछे भागता रहता है जैसे मृग के अन्दर से ही कस्तूरी की गंध निकलती है लेकिन वह इस गंध को खोजने बाहर दौड़ता रहता है, वह उस गंध को न पाकर बेचैन रहता है। ठीक वैसी ही स्थिति मनुष्य की है।

इन्द्रियों से प्राप्त सुख वस्तुतः आनन्द की छाया है लेकिन मनुष्य स्वभावतः आनन्द प्राप्त करना चाहता इसलिए वह अधिक से अधिक बाहर भागता है जिससे उसमें आनन्द मिल सके, लेकिन वह उसे वाह्य जगत, इन्द्रियानुभव में नहीं मिलता इसलिए उसके अन्दर एक तरह की बेचैनी, छटपटाहट उत्पन्न होती है। इस बेचैनी, छटपटाहट का कारण मनुष्य का अपने स्वरूप से परिचित न होना है जिससे उसके समस्त प्रयास विपरीत दिशा में मुड़ जाते हैं। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब नदी के स्थिर जल में बनता है लेकिन यदि हम उस चन्द्रमा को पाने के लिए नदी में उतर जाय तो चन्द्रमा तो मिलता नहीं बल्कि उसका जो भी प्रतिबिम्ब वह दिखाई दे रहा था वह भी लुप्त हो जाता है। जितना ही हम नदी में प्रतिबिम्बत चन्द्रमा को पाने हेतु नदी की तरफ जायेंगे, उतनी ही असफलता एवं निराशा हमें मिलेगी। वास्तविक चन्द्रमा को पाने हेतु हमें 'उल्टी यात्रा' करनी पड़ेगी। ठीक वैसे ही आनन्द की खोज, स्वयं को जानने हेतु जितना ही हम बाहर, जगत, इन्द्रियों की तरफ जायेंगे उतना ही हम न केवल स्वयं को नहीं जान पायेंगे बल्कि जो थोड़ा बहुत 'सुख' हमें बाहर मिल सकता था, उससे भी वंचित रह जायेंगे। इस स्थिति में हमें भी 'उल्टी यात्रा' करनी होगी, हमें 'बाहर से भीतर' जाना होगा तभी न केवल हम स्वयं को जान पायेंगे, स्वयं के स्वरूप से परिचित होंगे बल्कि 'बाहर' को भी 'भीतर' की अभिव्यक्ति के रूप में देखेंगे। इस स्थिति में हमें सर्वत्र 'आत्मा' का विस्तार ही दिखाई देगा। जब सब कुछ आत्मवत् है तो फिर दुःख, क्लेश के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता और सर्वत्र आनन्द की ही अनुभूति होती है। अष्टावक्र कहते हैं—

“एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।

अयमेव हिते बंधों द्रष्टारि पश्यसीतरम् ॥ (अष्टावक्र गीता, 7)

“एकं सर्वगतं व्योम बहिरंतर्यथा घटे।

नित्यं निरंतरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा ॥” (अष्टावक्र गीता 20)

अष्टावक्र भी वेदान्त की बात कहते प्रतीत होते हैं कि एक ही द्रष्टा सर्वत्र व्याप्त हैं अर्थात् हम 'बोलने वाले' एवं 'सुनने वाले'—समस्त क्रियाओं के अधिष्ठान केन्द्र के रूप में हैं, हमारी दिक्कत यह है कि हम स्वयं को द्रष्टा न मानकर दूसरों को, चाहे वस्तुएँ हो या व्यक्ति, को द्रष्टा मानते हैं। हम अपनी पहचान दूसरों की नजर में करना चाहते हैं और दुःखी होते हैं।

“कोरोना” जन्य त्रासद स्थिति के परिप्रेक्ष्य में जब हम स्वयं को देखेंगे तो निश्चित ही दुःख का अनुभव करेंगे, जो कोई काल्पनिक अवस्था न होकर एक कठोर वास्तविकता है, क्योंकि आज बहुत से लोग भूख अभाव से न केवल पीड़ित हैं बल्कि अपने घरों से, आत्मीयजनों से बहुत दूर हैं, जीविका के साधन से वंचित हैं, जिसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है बल्कि यह एक अनुभूतिजन्य तथ्य है जिसकी किसी भी तरह से उपेक्षा नहीं हो सकती है।

हम केवल यह स्थापित करना चाहते हैं कि हम इस निराशाजनक दुःखद अवस्था में किस प्रकार थोड़ा बहुत ही अपनी चैतसिक अवस्था का संतुलन बनाये रख सकें। लॉकडाउन जन्य स्थिति हमें वह अवसर प्रदान कर सकती है कि हम भले ही स्वयं को समझाने, आस्वस्त करने के लिए थोड़ी देर के लिए ही यह मान लें कि हमारे सुख का

आधार यही है कि हम स्वयं को द्रष्टा के रूप अनुभव करे। जिस प्रकार एक ही आकाश घड़े के बाहर एवं अन्दर व्याप्त होता है ठीक वैसे ही एक ही अस्तित्व चतुर्दिक व्याप्त है। सागर ही लहरों के रूप में लहराता है, जिस प्रकार सागर एवं उसकी लहरें अभिन्न होती है ठीक वैसे ही एक ही अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, विभिन्न भौतिक अस्तित्व उसी के स्वरूप है। यह अनुभव ही हमें न *केवल स्वयं का बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के मूलभूत स्वरूप—उनकी अस्तित्वगत चैतन्य एकता का बोध कराता है।* इस स्थिति में ही कोई भी जनक के समान यही घोषणा करता है कि “प्रकाश मेरा स्वरूप है। मैं उससे अलग नहीं हूँ, जब संसार प्रकाशित होता है तब वह मेरे ही प्रकाश में प्रकाशित होता है।”

“प्रकाशों में निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।

यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽऽहभास एव हि।” अष्टावक्र गीता (28)


इसी स्थिति में मनुष्य यह जानता है कि समस्त दुःख का मूल द्वैत है, उसकी औषधि कोई नहीं। यह सब दृश्य झूठ है, मैं एक शुद्ध चैतन्य रस हूँ।”

द्वैत मूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।

दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकाऽहं चिद्रसोऽमलः।।” अष्टावक्र गीता (36)

दुःख का मूल द्वैत है जिसकी कोई औषधि नहीं हैं क्योंकि मूलतः हम एवं अस्तित्व दो नहीं है इसलिए किसी भी औषधि की आवश्यकता नहीं है। हम वियुक्त अलग—अलग नहीं है इसलिए जोड़ने के समस्त प्रयास से टूटन न होने पर भी टूटन का अहसास होता है। हम जुड़े है इसे केवल अनुभव करना है क्योंकि हम अस्तित्व से वियुक्त, अलग हो भी कैसे सकते है? हममें से न तो कोई परतंत्र है *और न ही स्वतंत्र बल्कि वस्तुतः हम सबमे ‘परस्पर—तंत्रता’ है। ‘परस्पर तंत्रता’ शब्द ही मानव स्वभाव एवं अस्तित्व का वास्तविक बोध कराने में सक्षम है।*

‘परस्पर तंत्रता’ पद ही हमारे अस्तित्व को सम्यक रूपेण व्याख्यायित करता है तो आज के दुःखद यथार्थ की ये मांग हैं कि अपने उन सभी भाईयों की दयनीय अवस्था के प्रति न केवल संवेदनशील रहें अपितु हमारी संवेदना की भौतिक अभिव्यक्ति उन्हें हर प्रकार से सहायता देकर भी हो, जिससे उनकी पीड़ा को जहां तक सम्भव हो कम किया जा सके। हमारे यशस्वी प्रधानमन्त्री मा० श्री नरेन्द्र मोदी जी एवं प्रदेश के सम्मान्य मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ जी की भी हम सभी से यही अपेक्षा है।



सुशील कुमार तिवारी

(विशेष कार्याधिकारी)

अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,

सिद्धार्थनगर।